# जैन साधना-पद्धति में ध्यान

✯ साध्वी दर्शनप्रभा, बी० ए०

जीवन में मानवीय सद्गुणों के विवेकपूर्ण विकास की प्रक्रिया को साधना कहा है। साधना के कई रूप हैं, किन्तु सभी साधना-पद्धतियों का एक ही संलक्ष्य है—सद्गुणों का उत्कर्ष कर स्थायीसुख को प्राप्त करना। अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ना, अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति करना, मृत्यु से अमरत्व की ओर कदम बढ़ाना और विभाव से स्वभाव की ओर प्रगति करना। साधना का संलक्ष्य है पूर्णता की प्राप्ति। एक बार के प्रयत्न से पूर्णता नहीं आती। उसके लिए सतत प्रयास अपेक्षित है। ज्यों-ज्यों मोह की मात्रा कम होती है त्यों-त्यों साधक के कदम प्रगति की ओर बढ़ते हैं। साधना का समय एक अभ्यास का काल है। वह साधनाकाल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यग्तप की आराधना कर आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी विजातीय तत्त्व को नष्ट करता है।

जैन साधना-पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि स्थान है। ध्यान का अर्थ है मन को अनेक में से एक में, और एक से आत्मा में लीन कर देना। यह कठिन क्रिया है। इस क्रिया में जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को खपा दिया है वे भी कितना पथ पार कर सके हैं यह एक प्रश्न है। जो साधक यह मानते हैं कि हम घण्टों तक निर्विकल्प समाधि में अवस्थित रहते हैं, पर यह केवल उनके मन का भ्रम ही है। नाक के अग्रभाग पर, श्वास पर, या अन्य किसी भौतिक अवलंबन पर टिका हुआ मन उस वस्तु में रहता है। जैन दृष्टि से पूर्ण योगनिरोध रूप शैलेशी समाधि का कालमान पाँच ह्रस्व अक्षर जितना माना गया है और वह भी वीतराग भगवान के जीवन के अन्तिम क्षणों में ही होता है। अवशेष जो ध्यान की प्रक्रिया है उसमें मुख्य रूप से चिन्तन होता है। जैन दृष्टि से (१) पृथक्त्ववितर्कसविचार, (२) एकत्ववितर्कअविचार (३) सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती (४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति—ये शुक्ल ध्यान-प्रक्रिया के चार प्रकार हैं, जिसमें साधक का चिन्तन क्रमशः सिमटता चला जाता है। बौद्ध परम्परा में भी प्रथम ध्यान के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँच अंग हैं। क्रमशः उनका सारांश इस प्रकार है—ध्येय में चित्त का गहराई से प्रवेश वितर्क है। मन का ध्येय से बाहर नहीं जाना विचार है। मानसिक आनन्द प्रीति है; काम, व्यापार स्त्यानगृद्ध, औद्धत्य, विचिकित्सा—इन पाँच नीवरणों को अपने में समाहित हुए देखकर मन में आल्हाद उत्पन्न होता है। उसी आल्हाद से प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति से तन शान्त हो जाता है जिससे काय-सुख उत्पन्न होता है। एकाग्रता का अर्थ समाधि है। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार ये दो अंग नहीं होते जिससे आंतरिक प्रसाद व चित्त की एकाग्रता होती है। इस ध्यान में निष्ठा, प्रीति, सुख व एकाग्रता की प्रधानता होती है। तृतीय ध्यान में तृतीय अंग प्रीति भी नहीं होती। केवल सुख और एकाग्रता की प्रधानता रहती है। सुख की भावना साधक के चित्त में विक्षेप पैदा नहीं करती जिससे चित्त में विशेष शांति और समाधान बना रहता है। चतुर्थ ध्यान में शारीरिक सुख-दुःख का पूर्णरूप से त्याग कर साधक रागद्वेष से रहित हो जाता है और उसमें एकाग्रता के साथ उपेक्षा और स्मृति ये दो मनोवृत्तियाँ होती हैं। इसमें सौमनस्य-दौर्मनस्य के लुप्त हो जाने से चित्त सर्वथा निर्मल और विशुद्ध बन जाता है।

बौद्ध साहित्य में ध्यान के अन्य चार भेद भी है—१. कायानुपश्या, २. वेदनानुपश्य ३. चित्तानुपश्या ४. धर्मानुपश्या। साधक कायानुपश्या से काया सम्बन्धी, वेदनानुपश्या से वेदना सम्बन्धी, चित्तानुपश्या से चित्त सम्बन्धी और धर्मानुपश्या से धर्म सम्बन्धी चिन्तन करता है।

ध्यान एक साधना है। उसके बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं। शारीरिक आदि एकाग्रता उसका बाह्य रूप है; अहंकार-ममकार आदि मनोविकारों का न होना उसका आभ्यन्तर रूप है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो एकाग्रता ध्यान का शरीर है और अंहभाव-ममत्व आदि का परित्याग उसकी आत्मा है। मनोविकारों के बिना परित्याग के काय, वाक् और मन में स्थैर्य नहीं आ सकता और न समता ही प्रस्फुटित हो सकती है। एकाग्रता व स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग वास्तविक साधना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक उत्कृष्ट साधना की। छह-छह महीने तक वे उपवासी रहे। किन्तु वे उपवास आदि उन्हें कष्टकर प्रतीत नहीं हुए क्योंकि उन्होंने ध्यानयोग के द्वारा समत्व का इतना विकास कर लिया था कि विषमभाव या परभाव उनके पास तक नहीं आये। वे अधिक से अधिक समय तक ध्यान में लीन रहते। वे समझते थे कि यह शरीर पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। जब तक आयुकर्म का सम्बन्ध है तब तक शरीर रहेगा। साधनाकाल में अनेक रोमांचकारी उपसर्ग भी उपस्थित हुए। संगम देव ने, शूलपाणि यक्ष ने, कटपूतना ने, चंडकौशिक सर्प ने, ग्वाले ने और अनार्य देशवासियों ने उन्हें भयंकर उपसर्ग दिये। किन्तु वे ध्यान से कभी विचलित नहीं हुए। समभाव में स्थिर रहकर केवलज्ञान व केवलदर्शन को प्राप्त किया।

जैन साधना-पद्धति में तप के बारह प्रकार बताये हैं—उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग सर्वोत्कृष्ट हैं। अन्य तप उसके साधन मात्र हैं। योगिराज पद्मसिंह ने लिखा है—जैसे पाषाण में स्वर्ण, काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग के दृष्टिगोचर नहीं होती वैसे ही बिना ध्यान के आत्म-दर्शन नहीं होते। ध्यान से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का परिज्ञान होता है।

ध्यान की संसिद्धि के लिए प्रारम्भिक साधक को मन एकाग्र करने का सुगम और सरल उपाय आचार्यों ने मन्त्र जाप आदि बताया है। जो अध्यवसाय चल है वह चित्त है और जो स्थिर है वह ध्यान है। ध्यान का प्रथम रूप चित्त का निरोध करना है और दूसरा रूप शरीर, वाणी और मन का पूर्ण रूप से निरोध करना है। जैन आगम साहित्य में ध्यान के चार प्रकार बताये हैं। आर्त और रौद्र—ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म व शुक्ल—ये प्रशस्त हैं। धर्मध्यान शुक्लध्यान की भूमिका तैयार करता है। शुक्लध्यान मुक्ति का साक्षात् कारण है। सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान रहता है। आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान का प्रारम्भ होता है। कहा जाता है कि शुक्लध्यान पूर्वधर मुनियों को होता है।

धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय—ये चार प्रकार हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान ये ध्येय हैं। इन ध्येय विषयों पर चित्त एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त-निरोध के साथ उसकी शुद्धि होती है। आज्ञाविचय से वीतरागभाव की प्राप्ति होती है। अपायविचय से रागद्वेष और मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्ति प्राप्त होती है। विपाकविचय से दुःख प्राप्ति का मूल कारण परिज्ञात होता है। संस्थानविचय से अनासक्तभावों की वृद्धि होती है और आसक्ति नष्ट होती है। इस प्रकार धर्म-ध्यान से चित्तविशुद्धि का अभ्यास किया जाता है और वह अभ्यास परिपक्व होने पर धर्मध्यान में प्रवेश होता है।

धर्मध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—१. आज्ञारुचि—रागद्वेष-मोह के कम हो जाने से मिथ्या-आग्रह का अभाव हो जाता है। २. निसर्गरुचि—पूर्ण शुद्धि से समुत्पन्न सहजरुचि। ३. सूत्ररुचि—सूत्र के अध्य-यन से उत्पन्न रुचि। ४. अवगाढ़ रुचि—तत्त्व के अवगाहन में उत्पन्न रुचि।

धर्मध्यान के चार आलंबन है। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा। धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा चार प्रकार की है—१. एकत्वानुप्रेक्षा—मैं अकेला हूँ इस प्रकार चिन्तन करना। २. अनित्यानुप्रेक्षा—सब संयोग अनित्य हैं ऐसा चिन्तन। ३. अशरणानुप्रेक्षा—दूसरा कोई भी व्यक्ति त्राण नहीं दे सकता इस प्रकार विचार करना। ४. संसारानु-प्रेक्षा—जीव ससार में परिभ्रमण कर रहा है, इस प्रकार चिन्तन करना।

धर्मध्यान के पश्चात् शुक्लध्यान आता है। शुक्लध्यान का शाब्दिक अर्थ है उज्ज्वल और स्वच्छ ध्यान। शुक्लध्यान के चार आधार स्तंभ माने गये हैं।

(१) **पृथक्त्ववितर्कसविचारी**—इसमें मानव प्रत्येक कार्य को विचार सहित करता है। इसमें विचार होते हैं किन्तु तर्क नहीं होता। इसमें एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलंबन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन, काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है। शुक्लध्यान की प्रस्तुत स्थिति पृथक्त्ववितर्कसविचारी कही जाती है।

(२) **एकत्ववितर्कअविचारी**—जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलम्बन लिया जाता है, जहाँ पर शब्द, अर्थ तथा मन, वचन, काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है शुक्लध्यान की प्रस्तुत अवस्था एकत्ववितर्कअविचारी है।

(३) **सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती**—जब मन और वाणी के योगों का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है। किन्तु काया के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता है, श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्मक्रिया अवशेष रहती है, प्रस्तुत अवस्था को सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है। इसमें कभी भी पतन नहीं होता। अतः यह अप्रतिपाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) **समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति**—जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है उस अवस्था को समुच्छिन्न-क्रिय कहते हैं। इसका निवर्तन नहीं होता, अतः यह अनिवृत्ति है।

आचार्य पतंजलि ने शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों को संप्रज्ञात और अन्तिम दो भेदों को असंप्रज्ञात समाधि कहा है।

शुक्लध्यान के चार लक्षण हैं—(१) अव्यथ—क्षोभ का अभाव, (२) असंमोह—सूक्ष्म पदार्थ विषय संबंधी मूढ़ता का अभाव। (३) विवेक—शरीर और आत्मा के भेद का परिज्ञान (४) व्युत्सर्ग—शरीर और उपाधि में अना-सक्त भाव।

शुक्लध्यान के चार आलंबन हैं—(१) क्षांति—क्षमा (२) मुक्ति-निर्लोभता (३) मार्दव—मृदुता, और (४) आर्जव—सरलता।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—(१) अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा—संसार की परंपरा पर चिन्तन करना। (२) विपरिणाम अनुप्रेक्षा—वस्तुओं के परिणामों का चिन्तन। (३) अशुभ अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अशुभता पर चिन्तन। (४) अपाय अनुप्रेक्षा—दोषों पर चिन्तन।

वर्तमान युग में शुक्लध्यान का अभ्यास संभव नहीं है तथापि उसका विवेचन आवश्यक है जिससे कोई विशिष्ट साधक लाभान्वित हो सकता है। हमने उपर्युक्त पंक्तियों में शुक्लध्यान के चार आलंबन बताये हैं। प्रारंभ में मन का आलंबन समूचा संसार होता है किन्तु शनैः-शनैः अभ्यास होते-होते वह एक परमाणु पर स्थिर हो जाता है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। आलंबन का जो संक्षेपीकरण है उसे आचार्यों ने उदाहरणों के द्वारा समझाया है। जिस प्रकार संपूर्ण शरीर में फैले हुए जहर को डंक के स्थान में एकत्रित करते हैं और फिर उस जहर को बाहर निकाल देते हैं वैसे ही विश्व के सभी विषयों में फैला हुआ मन एक परमाणु में निरुद्ध किया जाता है और उसे हटाकर आत्मस्थ किया जाता है। जिस प्रकार ईंधन समाप्त हो जाने पर अग्नि पहले क्षीण होती है, फिर वह अग्नि बुझ जाती है उसी प्रकार विषयों के समाप्त होने पर मन पहले क्षीण होता है, फिर शान्त हो जाता है। जिस प्रकार गरम लोहे के बर्तन में डाला हुआ जल क्रमशः न्यून होता जाता है, इसी प्रकार शुक्लध्यानी का मन अप्रमाद से क्षीण होता जाता है।

आचार्य पतंजलि ने अपने योगसूत्र में लिखा है—योगी का चित्त सूक्ष्म जप में निविशमान होता है तब परमाणु स्थित हो जाता है। और स्थूल में निविशमान होता है तब परम महत्त्व उसका विषय बन जाता है। पतंजलि ने परमाणु पर स्थिर होने की बात तो कही है किन्तु स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की चर्चा नहीं की।

शुक्लध्यान के पहले दो चरणों में शुक्ललेश्या होती है। तीसरे चरण में परमशुक्ललेश्या होती है और चौथे चरण में लेश्या नहीं होती। शुक्लध्यान का अन्तिम फल मोक्ष है।

कुछ व्यक्तियों का यह मन्तव्य है कि वर्तमान युग में ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि शरीर का संहनन जितना सुदृढ़ चाहिए उतना नहीं है। आचार्य उमास्वाति ने भी लिखा है कि ध्यान वही कर सकता है जिसका शारीरिक संह-नन उत्तम है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है इस दुःषमकाल में आत्मस्वभाव में स्थित ज्ञानी के धर्मध्यान हो सकता है, जो इस बात को स्वीकार नहीं करता वह अज्ञानी है। आचार्य देवसेन का भी यही मन्तव्य है। तत्त्वानुशासन में आचार्य रामसेन ने तो यहाँ तक लिखा है जो व्यक्ति वर्तमान में ध्यान होता नहीं मानते हैं वे अर्हत मत को नहीं जानते। यह सत्य है कि वर्तमान में शुक्लध्यान के योग्य शारीरिक संहनन नहीं है किन्तु धर्मध्यान के योग्य आज भी संहनन है। शारीरिक संहनन जितना अधिक सुदृढ़ होगा उतना ही मन स्थिर होगा। शरीर की स्थिरता पर ही मन की स्थिरता संभव है।

ध्यान की सिद्धि के लिए रामसेन ने गुरु का उपदेश, श्रद्धा, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमन ये चार बातें आवश्यक मानी हैं। आचार्य पतंजलि ने अभ्यास की दृढ़ता के लिए दीर्घकाल, निरन्तर और सत्कार ये तीन बातें आवश्यक बतायी हैं। सोमदेवसूरि ने वैराग्य, ज्ञानसम्पदा, असंगतता, चित्त की स्थिरता, भूख-प्यास आदि को सहन करना—ध्यान के ये पाँच हेतु बताये हैं।

संक्षेप में ध्यान मोक्ष का प्रधान कारण है। ध्यान से कर्म रूपी बादल उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे दाक्षिणात्य पवन के चलने से। साबुन से मलिन वस्त्र स्वच्छ हो जाता है वैसे ही ध्यान से आत्मा निर्मल बन जाता है। जैन साधना में ध्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। आज आवश्यकता है ध्यान की साधना को पुनरुज्जीवित करने की। ज्यों-ज्यों ध्यान की साधना विकसित होगी त्यों-त्यों राग-द्वेष-ईर्ष्या-मोह आदि की मात्राएँ कम होंगी और आत्मा में अधिक मात्रा में विशुद्धता प्राप्त होगी। और जीवन में अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होगी। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org